

## Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika प्रायश्चित्त विधानों की उपादेयता

### सारांश

प्राचीन भारत के सामाजिक ढाँचों के सैद्धान्तिक पक्ष धर्म-आचार एवं दर्शन पर आधारित थे, शायद इसीलिये हिन्दू विधि शास्त्रों में विधि (Law) की व्याख्या समाज, धर्म एवं दर्शन के संदर्भ में की गयी है। वस्तुतः प्राचीन विधि की धारणा ऐसे नियमों के समूह से थी, जिन्हे मानव आचरण के मार्गदर्शन हेतु उसे स्वीकारा जाता था। प्रो० डेरेट के शब्दों में, “विधि जिसका सम्बन्ध शांति, व्यवस्था एवं सुशासन से है, नैतिकता के सिद्धांतों से जुड़ी हुई है तथा विधि को प्रारंभ से ही नीति परायणता की शिक्षा का एक अंग माना जाता था।”<sup>1</sup>

**मुख्य शब्द :** हिन्दू विधि शास्त्र, प्रायश्चित्त विधान।

### प्रस्तावना

प्राचीन विधि की एक प्रमुख विशेषता ‘धर्म’ के साथ इसका अविच्छिन्न संबंध है, इसे स्पष्टतः धर्म का एक भाग माना गया है। जॉली महोदय ने स्वीकारा है कि, “विधि (व्यवहार), धर्म और आचार शास्त्र (नीति) का एक सम्पूर्ण हिस्सा है।” यही कारण था कि, विधि की अनुशास्तियों (Sanctions) को दोहरी मान्यता प्रदान की गयी थी। पहला यह कि जो व्यक्ति उसके विपरीत आचरण करता था, वह राजदण्ड का भागी होता था, दूसरा यह कि धर्म के इन नियमों के विपरीत आचरण करने वाला पाप का भी भागी होता था।

### अध्ययन का उद्देश्य

भारतीय समाज के नियमन तथा दृढीकरण में प्रायश्चित्त एवं दण्ड विधानों की उल्लेखनीय भूमिका रही है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर ये विधान मनुष्य को यदि एक ओर पाप तथा अपराध से विमुख करने में सहायक थे, तो दूसरी ओर मनुष्य के व्यक्तित्व में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के समावेश में भी उनका प्रशंसनीय योगदान था। अर्थात्, प्रायश्चित्त विधान प्राचीन समय से ही मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का नियमन एवं अनुपालन कराने में महत्वपूर्ण रहे हैं।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य प्रायश्चित्त विधानों के माध्यम से जन जाग्रति पैदा कर समाज-व्यवस्था एवं सामाजिक नियमन को अक्षुण्ण रखना है, जिससे जन-सामान्य भय-मुक्त और समाज अपराध-मुक्त बनाया जा सके।

आधुनिक विधि शास्त्र में अनुशास्तियाँ केवल राज्य द्वारा ही आरोपित की जाती हैं, जब कि प्राचीन विधि-शास्त्र में राज्य द्वारा आरोपित अनुशास्तियाँ के साथ-साथ धार्मिक एवं सामाजिक अनुशास्तियाँ भी प्रदान की गयी हैं। व्यक्ति को विधि की अवहेलना करने पर न सिर्फ राज्यदण्ड मिलता था अपितु उसे पाप का भी भागीदार बनना पड़ता था, जिसके फलस्वरूप उसे परलोक में नरक-यातना को भोगना होता था और इस लोक में विपत्ति, नाश, रोग तथा मृत्यु के भय के साथ-साथ उसे समाज से भी बहिष्कृत होना पड़ता था। इसीलिये प्राचीन ऋषियों में पाप रहित होने की उद्दाम इच्छा पायी जाती थी।

ऋग्वेद में पातक के संबंध में उन्मेष-शालिनी एवं हृदय-स्पर्शिनी अभिव्यञ्जनाएँ पायी जाती हैं। पाप संबंधी यह भावना विभिन्न धर्मों, युगों एवं देशों में विभिन्न प्रकार की रही है। भारत में वैदिक काल से लेकर मध्य काल तक के निबंधों व धर्मशास्त्र संबंधी टीकाओं के आलोक में कहा जा सकता है कि, पाप या पातक यह ऐसा शब्द है जिसका आचार व धर्म से अधिक निकट का संबंध है। काणे महोदय के अनुसार, “यह एक ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार (कानून) के उल्लंघन अथवा जानबूझ कर उसके विरोध करने से उद्भूत होता है। यह ईश्वर की उस इच्छा का विरोध है जो किसी प्रामाणिक ग्रंथ में अभिव्यक्त रहती है, अथवा यह उस ग्रंथ में पाये जाने वाले नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है।”<sup>2</sup> पर वर्तमान में न सिर्फ पश्चिम के वरन् पूर्व के भी बहुत से विद्वान पाप के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उदाहरणार्थ, बारबोअर के शब्दों में, “ऐसी धारणा बहुत घर करती चली आ रही है कि ईसाई भावना में पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है। किसी व्यक्ति



### आनन्द गोस्वामी

एसोसिएट प्रोफेसर एवं  
विभागाध्यक्ष,  
इतिहास विभाग,  
राजकीय स्नातकोत्तर  
महाविद्यालय,  
चरखारी, महोबा, उ०प्र०

का जीवन दुष्कर्म से परिपूर्ण हो सकता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व विच्छिन्न हो सकता है, किन्तु यह पाप नहीं है। यह मानसिक दुष्कर्म है जिसकी व्याख्या के मूल में मानसिक कारण है और संभवतः मनोवैज्ञानिक चिकित्सा से यह दूर किया जा सकता है ———।”<sup>3</sup>

सर आलिवर लॉज के अनुसार—“आज का उच्च व्यक्ति पापों के विषय में कुछ भी चिंता नहीं करता। दण्डों के विषय में तो बात ही दूसरी है।”<sup>4</sup> हमारे यहाँ भी प्राचीन भारत के नास्तिकों में प्रमुख चार्वाक के अनुयायी कहा करते थे—जब तक जीवन रहे, व्यक्ति को आनन्दों के बीच विचरण करना चाहिए (यावद् जीवेत् सुखं जीवेत्) उसे दूसरों से ऋण लेकर खूब डटकर खाना चाहिये (ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्) जब शरीर जलकर भष्म हो जाता है तो इस संसार में फिर से आना नहीं होता (भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः)। चार्वाक के अनुयायी गणों के उपर्युक्त मत को अपवादस्वरूप ही लिया जाना चाहिए, वस्तुतः ऋग्वैदिक ऋषि पातक या अपराध के विषय में अत्यधिक सचेत पाये गये हैं और देवों से विशेषतः वरुण एवं आदित्यों से न सिर्फ क्षमा याचना करते हैं बल्कि पातक के फल से छुटकारा पाने हेतु प्रार्थना भी करते हैं। मैक्समूलर के शब्दों में “अपराध की धारणा का क्रमिक विकास उन मनोरम उपदेशों में मिलता है, जिन्हें इन प्राचीन मंत्रों के कुछ वचन हमें देते हैं।”<sup>5</sup> निःसंदेह इन कृत्यों के पीछे इच्छापूर्ति की भावना मात्र ही नहीं थी, अपितु पापमोचन की भावना भी निहित रहती थी।

सूत्रों एवं स्मृतियों में वर्णित पाप-फल, कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर अबलम्बित है। इस संदर्भ में भौतिक विज्ञान के कार्य-कारण सिद्धांत के आधार पर हम कह सकते हैं कि, सत कर्म से शुभ फल मिलता है और असत कर्म से बुरा फल। वस्तुतः उपनिषदों के काल से ही कर्म एवं आवागमन के सिद्धांत एक दूसरे से अटूट रूप में जुड़े आ रहे हैं। इस संदर्भ में गौतम, शंकराचार्य, मार्कण्डेय पुराण तथा भविष्य पुराण में कहा गया है कि, “सामान्य नियम यह है कि कर्म से, चाहे वह सत् हो या असत् छुटकारा नहीं मिल सकता, हमें उसके शुभ या अशुभ फल भुगतने ही पड़ेगे।”<sup>6</sup> गौतम के मतानुसार, ऐसा इसलिये है, “क्योंकि कर्म का नाश नहीं होता।” पर आगे चलकर स्मृतियों एवं अन्य ग्रंथों में यह सिद्धांत संशोधित हो गया। गौतम एवं वशिष्ठ का मत है, “जप (वेद मंत्रों का बारम्बार पाठ), तप, होम, उपवास एवं दान उस (दुष्कृत्य) के प्रायश्चित्त के साधन है।”<sup>7</sup> मनु के शब्दों में, “आत्मापराध स्वीकार पश्चात्ताप, तप, वैदिक मंत्रों (गायत्री आदि) के जप से पापी अपराध (पाप) से मुक्त हो जाता है और कठिनाई पड़ जाने पर (अर्थात् यदि वह जप, तप आदि न कर सके तो) दान से मुक्त हो जाता है।”<sup>8</sup>

वस्तुतः अपने मन के नियंत्रण एवं प्रायश्चित्त के लिये, उपवास की महत्ता पारसियों को छोड़कर सभी धर्मों, यथा—हिब्रू, ईसाई (लेण्ट में) एवं मुस्लिम (रमजान में) ने समझी है। प्रथम पुरुष ‘आदम’ ने हुक्म न मानकर अपराध किया था, अतः उन्हें “तौबा” (प्रायश्चित्त) करके उस भूल का सुधार करना पड़ा। भगवद् गीता का कथन है कि, “आध्यात्मिक ज्ञान की अग्नि सभी (संचित) कर्मों (एवं उनके फलों) को जला डालती है।”<sup>9</sup>

निरन्तर पाप से बचने की भावना तथा पाप के प्रति पश्चात्ताप और आत्मस्वीकारोक्ति की प्रबल उत्कंठा ने ही प्रायश्चित्त विधानों को जन्म दिया। उत्तरवर्ती काल में पाप और अपराध की सीमा में परिवर्तन हुआ। प्रारंभ में जिन पापों के लिये प्रायश्चित्त का निर्णय परिषद राजा को बिना सूचित किये भी कर लेती थी और क्रियान्वयन भी हो जाता था वे कालान्तर में अपराध की सीमा के अन्तर्गत आ गये और ऐसी स्थिति में अब राजा को वस्तु स्थिति के विषय में अवगत कराना आवश्यक हो गया। अब प्रायश्चित्त और दण्ड दोनों के क्रियान्वयन की अंतिम जिम्मेदारी राजा या राज्य के ऊपर होती थी। प्रतीत होता है कि गभीर अपराध यथा—चोरी करना, हत्या आदि में प्रायश्चित्त करना ही पर्याप्त नहीं था, बल्कि दण्ड भी आवश्यक था। मनु का यह कथन नितांत समीचीन प्रतीत होता है कि, “राजा के ‘दण्ड’ के बाद व्यक्ति पाप से भी शुद्ध हो जाता है।”<sup>10</sup> वस्तुतः प्राचीन काल में नैतिकता की स्थापना हेतु चिन्तक सतत् प्रयत्नशील थे, किन्तु वह प्रयत्न मुख्यतः ईश्वरीय भय तथा ईश्वरीय प्रार्थनाओं पर आधारित था। उपनिषद् विचारधारा के फलस्वरूप समाज में एक नवीन प्रक्रिया ने जन्म लिया, अब यज्ञीय हिंसा की पर्याप्त निन्दा की गयी है।<sup>11</sup> धीरे-धीरे साम्राज्यवाद के विकास एवं राजतंत्र की पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ दण्ड संस्था भी विकसित हुई तो शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त विधानों के अन्तर्गत समाज एवं राज्य से संबंधित विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों की भी व्यवस्था कर दी जिनका परिचालन स्वेच्छया अथवा राजा के द्वारा होता था।<sup>12</sup> जिस प्रकार समाज का विकास नानाविधि परिस्थितियों के पारस्परिक फल प्रतिफल का परिणाम है उसी प्रकार प्रायश्चित्त व दण्ड विधानों को नियोजित करने की शक्तियाँ भी बहुविधि रूपों में प्रकट होती गयीं। इन शक्तियों में देवी प्रकोप का भय, नरकोन्मुक्ति, जाति बहिष्करण आदि के साथ—साथ मानसिक पश्चात्ताप की भी गणना की जा सकती है। परिणाम—स्वरूप प्राचीन भारत में पाप और अपराध के प्रति सामान्य जन सचेत रहता था, साथ ही उस युग में अपराध—बोध का भाव बड़ी जाग्रत अवस्था में था, फलतः लोग अपराध करने से डरते थे। फिर भी जाने—अनजाने में अगर व्यक्ति पाप या अपराध कर डालता था तो बहुधा—“I can not Excuse myself” आत्मबोध की इस पराकाष्ठा के वशीभूत वह स्वतः प्रायश्चित्तों का सम्पादन करने एवं दण्ड भुगतने हेतु प्रस्तुत होता था। फलतः तत्कालीन समाज, अपराध और अपराधी तत्त्वों पर अत्यंत सार्थक नियंत्रण रख सकने में सफल रहा। यह इस कारण भी संभव हुआ क्योंकि उक्त सम्पूर्ण व्यवस्था के पीछे एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक शक्ति कार्यरत थी वह शक्ति “धर्म—शक्ति” थी अर्थात् हिन्दू विधि को धर्म का आविच्छिन्न अंग मानते हुए इसे धर्ममय बना देना था।

### निष्कर्ष

वर्तमान समाज में अपराध और अपराधियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। नित्य नये—नये कानून बनाकर भी इनको रोक नहीं पा रहे हैं, ज्यों ही किसी अपराध को रोकने से संबंधित कोई कानून बनता है, तुरन्त उससे बच निकलने का रास्ता अपराधी तत्व अपराधी तत्व ढूँढ निकालते हैं। अतः वर्तमान में भी आत्म—शुद्धीकरण

की भावना लोगों के मन में पुनः जाग्रत करने की आवश्यकता है।

**संदर्भ ग्रन्थ सूची**

1. जे०डी०एम०डेर्रेट-क्रिटिक ऑव हिन्दू लॉ, 1970, पृ०28
2. काणे-धर्म शास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ० 1015
3. बारबोअर- सिन एण्ड दि न्यू साइकॉलोजी, पृ० 19
4. सर आलिवर लॉज- हिबर्ट जर्नल 1903-04, पृ० 466
5. मैक्समूलर- सेक्रेड बुक ऑव दि ईस्ट, जि० 1, पृ० 22
6. न ही कर्म क्षीयते। गौतम 19/5, तस्मात्कृतस्य पापस्य प्रायश्चित्तं समाचारेत्। नाभुक्तस्यान्यथा नाशः कल्पकोटिशतैरपि।। भवि० पु० 1/19/27
7. तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम्। गौतम० 19/11, वशिष्ठ 22/8
8. मनु०, 3/227 9-भगवद्गीता 4/37 10-मनु०, 8/138 11-शतपथ ब्राह्मण 10/5/4/15, ऐतरेय ब्राह्मण 1/9 12-काणे, पूर्वोद्धृत, भाग 4, पृ० 1049